



INTERNATIONAL JOURNAL OF TRENDS IN EMERGING RESEARCH AND DEVELOPMENT

INTERNATIONAL JOURNAL OF TRENDS IN EMERGING RESEARCH AND DEVELOPMENT

Volume 4; Issue 3; 2026; Page No. 217-222

Received: 09-03-2026

Accepted: 14-04-2026

Published: 15-05-2026

सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा में दलित स्त्री चेतना का अध्ययन

¹हेमलता और प्रो. (डॉ.) राजीव कुमार झा

¹शोधार्थी, हिन्दी विभाग भीमराव अम्बेडकर बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर, बिहार, भारत

²एच. ओ. डी. (स्नातकोत्तर हिंदी विभाग) लंगट सिंह महाविद्यालय (एल. एस. कॉलेज) मुजफ्फरपुर, बिहार, भारत

DOI: <https://doi.org/10.5281/zenodo.22655174>

Corresponding Author: हेमलता

सारांश

सुशीला टाकभौरे का जीवन समाज की कठोर जातिवादी संरचना और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बीच आत्मसम्मान की लड़ाई का प्रतीक है। उनकी आत्मकथा में 'दलित स्त्री चेतना' उस समय की सामाजिक अन्यायपूर्ण परिस्थितियों के प्रतिरोध के रूप में उभरती है। वे न केवल अपने जीवन की पीड़ा को उजागर करती हैं, बल्कि उस पीड़ा को राजनीतिक और सामाजिक विमर्श में बदलने की कोशिश भी करती हैं। उनका लेखन यह दर्शाता है कि दलित स्त्रियाँ केवल अत्याचार की शिकार नहीं हैं, बल्कि वे अपने अस्तित्व के लिए निरंतर संघर्षरत हैं और समाज की अन्यायपूर्ण संरचना को चुनौती देने की क्षमता रखती हैं। दलित स्त्री चेतना का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है – आत्मस्वर और आत्मसम्मान की खोज। सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा में यह दिखाया है कि कैसे एक दलित स्त्री, जो जाति और लिंग दोनों के बंधनों में जकड़ी हुई है, अपने भीतर आत्मविश्वास और पहचान की लौ जलाती है। वे कहती हैं कि बचपन से ही उन्हें 'नीची जाति' के होने का एहसास कराया गया, स्कूल में अपमान झेलना पड़ा, और समाज में हर कदम पर भेदभाव का सामना करना पड़ा। लेकिन इन परिस्थितियों ने उन्हें तोड़ा नहीं, बल्कि उनके भीतर प्रतिरोध की चेतना को मजबूत किया। यह चेतना सिर्फ व्यक्तिगत नहीं थी, बल्कि सामूहिक थी – दलित स्त्रियों के संघर्ष का प्रतीक थी। उनकी आत्मकथा में दलित स्त्रियों की स्थिति पर एक गहरा सामाजिक विश्लेषण मिलता है। वे बताती हैं कि दलित पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी समाज ने हाशिये पर धकेला, लेकिन उनके साथ होने वाला भेदभाव अधिक जटिल और गहरा था। दलित स्त्रियों को ऊँची जातियों के अत्याचारों के साथ-साथ अपने ही समुदाय में पुरुषवादी मानसिकता का भी सामना करना पड़ा। वे इस बात को रेखांकित करती हैं कि दलित आंदोलन में भी स्त्रियों की आवाज़ को अक्सर गौण समझा गया। ऐसे में उनकी आत्मकथा दलित नारी विमर्श की दिशा में एक मील का पत्थर सिद्ध होती है।

मूलशब्द: सुशीला टाकभौरे, आत्मकथा, दलित स्त्री चेतना, जातिवादी संरचना, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, राजनीतिक और सामाजिक विमर्श, अन्यायपूर्ण संरचना

प्रस्तावना

दलित आत्मकथाओं का जन्म मराठी साहित्य से माना जाता है। दया पवार, लक्ष्मण गायकवाड़, शान्ताबाई कांबले, उर्मिला पवार आदि अनेक दलित साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखीं। इसके बाद हिन्दी भाषी क्षेत्र के दलित साहित्यकारों ने भी अपनी व्यथा-कथा को हिन्दी दलित आत्मकथा के रूप में लिखा। इसमें ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने-अपने पिंजरे', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' आदि आत्मकथाएँ प्रकाशित हुईं।¹

'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभौरे द्वारा लिखी हिन्दी भाषी क्षेत्र की पहली दलित स्त्री की आत्मकथा है, जो सन् 2011 में प्रकाशित हुई। दलित स्त्री के तिहरे शोषण की अभिव्यक्ति के लिए लेखिका ने आत्मकथन का माध्यम चुना जिसके द्वारा वे अपने जीवन का कटु यथार्थ व पीड़ा को विस्तृत रूप में व्यक्त कर सकी हैं। यह आत्मकथा समाज के सामने दलित स्त्री जीवन की त्रासदी को उद्घाटित करती है। दलित आत्मकथाओं के संदर्भ में डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कहना है कि- 'समाज के जिस विदूष, वीभत्स, क्रूर और अमानवीय चेहरे पर गैरदलित लेखक पर्दा डालते आए थे और समाज जिस सच से साक्षात् नहीं करना चाहता

था. इन आत्मकथाओं ने समाज के उस नग्न सच को बेपरदा किया। इस प्रकार इन आत्मकथाओं का मूल स्वर समाज की विषमता को नकार कर समतामूलक समाज की स्थापना करना है। सुशीला टाकभौरे का जन्म मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के बानापुरा गांव में सन् 1954 में हुआ। जहाँ अपनी नानी व माता-पिता और भाई-बहिनों के साथ अभाव व गरीबी से ग्रस्त जीवन जीने के साथ-साथ उन्हें सवर्णों द्वारा अपेक्षा व अपमान का घूंट भी पीना पड़ रहा था। इसी दर्द को लेखिका आत्मकथा की भूमिका में व्यक्त करती है- 'जिस तरह किसी ताकतवर को शिकंजे में जकड़कर उसकी पूरी ताकत को नगण्य बना दिया जाता है, उसी तरह मुझे भी सामाजिक जीवन की मनुवादी विषमता ने, वर्णवादी जातिवादी समाज व्यवस्था ने शिकंजे में जकड़कर रखा, जिसका परिणाम पीड़ा-दर्द, छटपटाहट के सिवा कुछ नहीं है।

अपनी आत्मकथा के द्वारा लेखिका ने जीवन के घृणित रूप को उजागर किया, जो उन्होंने निडरता के साथ अपने व्यक्तिगत अनुभवों को बड़ी प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया। डॉ. वीरेन्द्रसिंह यादव के अनुसार 'आत्मकथा वही लिख सकता है, जिसमें अपनों को या औरों को नहीं, बल्कि खुद को चौराहे पर खड़े होकर नंगा देखने का साहस होता है। लेखिका आत्मकथा लिखने का उद्देश्य बताती हुई मनोगत में लिखती हैं- 'शिकंजे का दर्द में संताप है दलित होने का. स्त्री होने का। इसमें शोषित, पीड़ित, अपमानित, अभावग्रस्त दलित जीवन की व्यथा है। स्त्री होना जैसे व्यथा की बात है। चाहे हमारा देश हो या विश्व के अन्य देश, हर जगह शोषण उत्पीड़न का शिकार स्त्री ही रही है। जिस देश में वर्णभेद. जातिभेद की कलुषित परम्पराएँ हैं वहाँ दलित स्त्री शोषण की व्यथा और भी गहरी हो जाती है। सदियों से तिरस्कृत और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहने के लिए मजबूर किये गये दलित जीवन की व्यथा-कथा का दर्द 'शिकंजे के दर्द लिखने का उद्देश्य दर्द देने वाले शिकंजे को तोड़ने का प्रयास है।' इक्कीसवीं सदी की स्त्री शिक्षित व आत्मनिर्भर होने के बाद भी पीड़ित है। वे आज भी पुरुषवर्चस्व का शिकार होती हैं। इसलिए सबसे पहले स्त्री को अपने भीतर की कमजोरियों को देखना होगा। क्योंकि उन्हें दूर करके ही वे आगे बढ़ सकती हैं। इस प्रकार सुशीला टाकभौरे का लक्ष्य स्त्री की सुप्त चेतना को जगाना है ताकि उनमें अस्मिता व अधिकार भाव जाग्रत हो सकें।¹²

दलित स्त्री के विविध जीवन संदर्भ

चाहे शैक्षिक स्तर हो या सामाजिक व आर्थिक स्तर सभी दृष्टियों से दलित स्त्री प्रगति के अंतिम छोर पर खड़ी है और साथ ही उन्हें हिंदू समाज व्यवस्था की धार्मिक व सांस्कृतिक कुरीतियों व रूढ़ियों का भी शिकार होना पड़ता है। चन्द्रा सदायत के अनुसार 'भारतीय स्त्री के जीवन की समस्याओं और उससे मुक्ति की आकांक्षा के लिए वे जीवनभर जूझती रही। यह काम उन्होंने दो स्तरों पर किया-लेखन के स्तर पर और जीवन व्यवहार के स्तर पर। लेखिका ने अपनी आत्मकथा द्वारा दलित स्त्री जीवन के संघर्ष व यातना के विभिन्न रूप दिखाये हैं। नानी और माँ, जो अशिक्षित, धार्मिक अंधविश्वासों में लिप्त, गुलाम व अछूत के रूप में लक्षित हैं वहीं स्वयं लेखिका पढ़ी-लिखी होने के बावजूद घरेलू हिंसा, पुरुषवर्चस्व और जातिभेद द्वारा प्रताड़ित की जाती है। वर्तमान समय में भी स्त्री इस जातिभेद व लिंगभेद के शिकंजों में जकड़ी हुई है।

अश्लीलता और स्त्री नामक लेख में मैनेजर पाण्डेय जी की मान्यता है कि- 'वर्णभेद के ऊपर लिंग-भेद बैठा है। वर्ग विषमता से अधिक कठोर और सर्वग्रासी है लिंग-भेद संबंधी विषमता। इसी तरह

सुशीला टाकभौरे को भी लिंगभेद की पीड़ा को बार-बार भोगना पड़ता है। इसी लिंगभेद व वर्णभेद के कारण लेखिका की नानी हो या माँ, प्रत्येक स्त्री के लिए शिक्षा के द्वार बंद ही रहे। जिसका जिक्र लेखिका आत्मकथा में करती हैं- 'लड़की जात, पढ़कर का करेगी? यह भावना और छुआछूत की पराकाष्ठा के कारण स्कूल के दरवाजे उनके लिए बन्द ही रहे। नानी के समय में शिक्षा पाने की बात सोचना भी सम्भव नहीं था। नानी चाहकर भी अपनी बेटी को स्कूल नहीं भेज पाई थी।' इस तरह मनुस्मृति को आधार मानकर अछूतों को शिक्षा से वंचित रखा जाता रहा। पितृसत्ता प्रधान भारतीय समाज में लड़कियों को पराया धन मानकर लड़कों को महत्ता दी जाती है। क्योंकि उनका मानना है कि लड़का ही उनके बुढ़ापे का सहारा है, वो ही उनके जीवन में काम आयेगा। इस तरह की संकीर्ण सोच ही लड़कियों के विकास में बाधा डालती है। समाज की रूढ़िग्रस्त मानसिकता इन शब्दों में व्यक्त होती है- 'लड़कियाँ तो चिरैया है. समय आते ही परदेस चली जायेंगी...'। 'लड़कियाँ उनकी ससुराल की अमानत हैं, पाल-पोस कर के उन्हें लौटा देंगे।' " लड़कियाँ चूल्हे का लूंगड़ा (जलती लकड़ी) है। जहाँ का लूंगड़ा वहीं जले तो अच्छा है। भले ही लड़की चाहे कितना भी पढ़-लिख ले। आत्मनिर्भर होकर परिवार का नाम रोशन करें, तब भी यह मानसिकता आज भी समाज में विद्यमान है।¹³

दलित स्त्री का संघर्ष और प्रतिरोध

शताब्दियों से दलित स्त्री ने गरीबी व जातिभेद का दंश तो झेला ही है। साथ ही एक स्त्री होने के कारण उसे जीवन में किन-किन बाधाओं का सामना करना पड़ता है, जिसकी ओर समाज का ध्यान ही नहीं जाता। एक स्त्री को कभी शिक्षित होने के लिए, कभी भूख के लिए कभी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के लिए, अपने हक व प्रगति के लिए न जाने कितनी तकलीफों को घर व बाहर झेलना पड़ा। उन्हें अपनी अस्मिता व अस्तित्व को स्थापित करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इस तरह उन्हें दलित और स्त्री दोनों की वेदना साथ-साथ भोगनी पड़ती है। इस प्रकार सत्य के धरातल पर लिखी 'शिकंजे का दर्द आत्मकथा सुशीला टाकभौरे के व्यक्तिगत अनुभव सम्पूर्ण दलित स्त्री समुदाय के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। पंकज चतुर्वेदी का मत है कि 'सदियों से हमारी पुरुषवादी और सवर्ण-वर्चस्ववादी संस्कृति की सबसे ज्यादा प्रताड़ना स्त्रियाँ और दलित सहते आए हैं। आज यही लोग अपनी आत्मकथा के जरिए दारुण अनुभवों का विशेष संसार उद्घाटित करेंगे, तो हमारा भाव-लोक भी चलता न रह पाएगा। आत्मकथा इसी दुहरी क्रांति की कामना से जन्म लेती है। वह साहित्यिक संस्कृति और सामाजिक संस्कृति को एक साथ बदलने का काम करती है।' सुशीला टाकभौरे अपने समय की विषमतावादी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षणिक सभी स्थितियों का युग बोध कराती हैं तथा अपने जीवन की समस्याएँ और चुनौतियों को व्यक्त करने के साथ-साथ मन में उत्पन्न आशा-निराशा, विश्वास अविश्वास व भय आदि भावों से भी परिचय कराती हैं। इस प्रकार उनकी आत्मकथा में दलित स्त्री जीवन का यथार्थ चित्रित है। सामाजिक मर्यादाओं व नैतिक बन्धनों के घेरे में स्त्री अपनी अनुभूति को खुलकर व्यक्त ही नहीं कर पाती। इसलिए सुशीला टाकभौरे स्त्री को मानसिक रूप से जागरूक व सबल बनने के लिए प्रेरित करती हैं और साथ ही परम्परावादी रीतियों, मान्यताओं व खोखले दावों को नकारती हैं तथा जातिविहीन व वर्णविहीन समाज का स्वप्न देखती हैं। उनका साहित्य केवल पीड़ा, निषेध, विद्रोह का साहित्य ही नहीं है, उसमें क्रांति का संदेश भी विद्यमान है। इसी कारण सुशीला टाकभौरे तमाम संघर्षों के बावजूद स्त्री सशक्तिकरण की पहचान बनकर

उभरती हैं। 'एक स्त्री की आत्मकथा समाज और परिवार की उन भीतरी सच्चाइयों से साक्षात्कार है, जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ पहनने वाला ही जानता है। सत्य है, जिसको चोट लगती है दर्द उसी को होता है।'⁴

सुशीला टाकभौरे ने भी आत्मकथा लिखते समय अनेक कठिनाइयों व चुनौतियों का सामना किया- "शिकंजे का दर्द की पांडुलिपि मेरी बेटियों ने पढ़ी। टाकभौरे जी ने भी पढ़ी। पारिवारिक जीवन की घटनाओं पर चर्चा होती रही। कभी वे नाराज होते रहे, कभी मैं नाराज होती रही। अनेक शुभचिन्तकों ने मुझे कहा, पारिवारिक बातों को अधिक न लिखूँ मगर मैंने लिखा। मैं पूर्ण सच्चाई बताना चाहती हूँ। एक स्त्री को अपनी दोहरी जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए न जाने कितने त्याग करने पड़ते हैं। सुशीला टाकभौरे को भी नौकरी पर जाने के लिए अपने बच्चों को कभी पड़ोस तो कभी रिश्तेदारों के पास छोड़ना पड़ता था, जो एक माँ के लिए इतना आसान नहीं होता। जब लेखिका के दूसरी लड़की हुई तब उनके पति ने कहा- मैं एक हूँ, मेरा बेटा भी एक ही रह गया। एक बेटा होने के बावजूद वे पुत्र मोह नहीं छोड़ पाये। समाज में आज भी एक बेटा होने के बाद दूसरे की आस बंध जाती है परन्तु माँ की नजर में बेटा हो या बेटा दोनों बराबर होते हैं। लेखिका का हृदय भी इसी कारण दो बेटियाँ होने के बावजूद अपनी तीसरी बेटा को अपने से जुड़ा नहीं कर पाया 'चाहे जितनी बेटियाँ रहें, मैं अपना बच्चा किसी को नहीं दे सकती। हम खुद उसे पालेंगे। मेरी बेटा मेरे पास ही रहेगी। स्त्री अपना कभी सोच ही नहीं पाती। लेखिका पति का जुलूम भी बच्चों के भविष्य के लिए सहती रही। उन्हीं के शब्दों में जाने दो। आगे ऐसा नहीं होगा। परिवार टूटने से बच्चों के साथ अन्याय होगा। बच्चों को माँ के साथ पिता भी चाहिए। लेखिका पति द्वारा प्रताड़ित घटनाओं को स्पष्ट व निर्भीकता के साथ व्यक्त करती हैं- मेरे साथ घर में मारपीट गाली-गलौज सब कुछ हुआ। बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना, पीठ पर घूँसे मारना, मैंने सब कुछ सहा। बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे। मार खाने के बाद मेरी हालत यह होती थी घंटों सिर चकराता, जैसे मैं हवा में उड़ रही हूँ, जमीन से फिसल रही हूँ, बड़े-बड़े पत्थर मेरी तरफ लुढ़कते आ रहे हैं, जैसे भागता हुआ हाथी आकर अचानक मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे कुचल रहा है।'⁵

आत्मकथा का शिल्प और दलित स्त्री की अभिव्यक्ति

शिकंजे का दर्द आत्मकथा सामन्ती व ब्राह्मणवादी व्यवस्था का खण्डन करती है और स्त्री की स्वतंत्रता व संवेदनाओं का समर्थन करती है क्योंकि जो व्यवस्था मनुष्य के अस्तित्व को नकारती है वह जनमानस के हितों के प्रति विश्वसनीय व प्रामाणिक नहीं हो सकती है। दलित साहित्य मनुष्य को सर्वोपरि मानता है। सुशीला टाकभौरे ने अपने जीवन में जिन वंचनाओं, निषेधों, प्रतिबंधों और अवरोधों को भोगा। उनका चित्रण वे खुरदरी, नुकीली और सीधी-सादी भाषा में करती हैं। उनकी भाषा में कल्पना व मनोरंजन का स्थान नहीं है। वे कल्पना के आकाश की नहीं यथार्थ के घरातल की बात करती हैं। जातीय उत्पीड़न का सच इन शब्दों में व्यक्त करती हैं- "मैं देखती थी, सवर्ण घरों में स्कूल से लौटे बच्चों पर घर के बाहर ही पानी छिड़क दिया जाता था और पहने हुए कपड़े उतरवाकर उन्हें दूसरे कपड़े पहनने के लिए दिये जाते थे। हमारे ही सामने वे नाक-भौं सिकोड़कर नफरत से कहते थे- न जाने कौन-कौन सी जात के बच्चों के साथ बैठकर पढ़कर आते हैं। सबकी छुआछूत घर में लाते हैं। इसका कारण सुशीला टाकभौरे मनुवादी व्यवस्था व पुरुष प्रधान संस्कृति को मानती हैं, जिसने

हमेशा से ही स्त्री को दोगुना दर्जा दिया है। 'मनुस्मृति से पहले ब्राह्मणी पितृसत्ता पूरी तरह से संस्थाबद्ध नहीं थी। लेकिन मनु ने पूरी तरह से संस्थाबद्ध करके और धार्मिकता से जोड़कर, राजसत्ता द्वारा संरक्षित कर दिया। लेकिन उसका मुख्य आधार जाति की श्रेष्ठता ही रही। इस तरह मनु की संस्थाबद्ध ब्राह्मणी पितृसत्ता जाति और जेंडर से जुड़कर एक सामाजिक व्यवस्था में तब्दील हो गई। जो दुनिया की सबसे घृणित सामाजिक व्यवस्था बन गई। इस तरह भी 'मनुस्मृति द्वारा संस्थाबद्ध ब्राह्मणी पितृसत्ता एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में शुद्धों और नारियों के शोषण और उत्पीड़न का सबसे बड़ा विनाशकारी हथियार बन गई, जिसका इस्तेमाल ब्राह्मण वर्ग द्वारा आज भी किया जा रहा है। कहीं प्रत्यक्ष रूप से तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप से।" सुशीला टाकभौरे इसी अमानवीय समाज व्यवस्था को आत्मकथा में बार-बार उल्लेखित करती है। लेखिका की भाषा सरल, प्रसंगानुसार गंभीर और यथार्थ चित्रित करने में सक्षम हैं- मैं कभी रेलवे स्टेशन के नल से छोटी गागर में पानी भर देती, तब लोग नल को मिट्टी से कभी पाँच बार, कभी सात बार माँजते घोते थे और मुझे घृणा उपेक्षा से देखते हुए डाँटते-फटकारते थे। शिल्प की दृष्टि से इनकी आत्मकथा श्रेष्ठ है। सुशीला टाकभौरे ने वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक और संवादात्मक आदि शैलियों का सुन्दर प्रयोग किया है। जिसके अंश यहाँ प्रस्तुत हैं-

"मैंने अपने जीवन को पूर्ण रूप में नहीं जिया। जिंदगी की गहराई में गहरी पैठ तो लगाई है मगर मुझमें ऊँची छलॉंग लगाने का मनोबल नहीं जागा, न मैंने ऐसा हौसला किया।

"मैं कक्षा में सबसे पीछे बैठती थी। स्कूल के सभी शिक्षक और सभी बच्चे मेरी जाति के विषय में जानते थे। सबके मन में मेरे लिए एक निश्चित दूरी थी। मैं नहाकर, साफ-सुधरे कपड़े पहनकर स्कूल जाती फिर भी स्कूल के बच्चों, अध्यापकों और चपरासी के लिए अछूत ही थी।

'आण्टी, देखो वह कैसी बातें सुना रही है, आप उससे कुछ क्यों नहीं कह रहे हो? आप भी उसे बातें क्यों नहीं सुनाते? मैंने सुषमा से कहा था- कम से कम वह इतना तो जानती है कि मैं कॉलेज में पढ़ाती हूँ, फिर उससे क्या झगड़ा करना? यह तो उसकी समझदारी है, जो वह ये बातें कह रही है। सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा में भाषा-सौन्दर्य की नहीं अपितु न्याय-अन्याय और मानवीय अस्मिता की बात रखती हैं। उनकी भाषा संकीर्ण सोच के बदलाव का साधन बनती है। जो विकृत मानसिकता पर प्रहार करती है- 'इनकी ठठरी बंध जाये, हमारे आदमियों से जले हैं, हमारी माँ-बहनों को बुरी नजर से देखे हैं। क्या इनकी माँ-बहन नहीं है? दलित सदियों से दबे-कुचले जरूर है पर वह कृपापात्र होकर नहीं बल्कि लड़कर अपना हक प्राप्त करना चाहता है। इसी कारण इनकी भाषा में सवर्ण संस्कृति की बर्बरता पर आक्रोश व विद्रोह भी दिखाई देता है- 'इन सालों ने ही हमको छोटा बनाकर रखा है, इन्होंने ही हमको अछूत और लाचार बना रखा है। ये साले हमको आगे नहीं बढ़ने देते हैं। 'शिकंजे का दर्द' आत्मकथा के प्रतीक भी भिन्न है, जो कटु जीवन से उपजे हैं। शिकंजा शब्द पीड़ा, यातना वह घुटन का प्रतीक है, जिसे सुशीला टाकभौरे ने अपने जीवन में सहा। सुअर पालन, झाड़ू, मैला ढोने जैसे काम हीनता व घृणा के प्रतीक हैं। उनकी आत्मकथा में आंचलिक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। लेखिका की नानी, माँ व पिताजी की भाषा मध्य प्रदेश की बोली है। जिसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है- 'बड़ो रईश का जायो है, बड़ी बातें करे है। अरे, अपने गाँव गली की रोटी खाने में

काय की शरम है? अपनी मेहनत के रोटी, टुकड़ा है, का इन्हें फेंक दे? ⁶

एक अन्य उदाहरण

'अरे भैया अपन उनकी बराबरी नहीं कर सकें हैं। वे अपन से बड़े हैं। वे कछु भी कर डाले, अपन उनको हाथ नहीं लगा सकें हैं। इनकी आत्मकथा में प्रकृति सौंदर्य का भी चित्रण मिलता है- मैं गुराड़ के पीछे प्रकृति का अलग ही सौंदर्य देखती थी। शाम के समय पश्चिम दिशा में छिपने से पहले सूरज कांसे की बड़ी थाली के बराबर दिखता, तब मुझे सूरज, आसमान और धरती सब सुंदर लगते थे। सब तरफ फैली सिन्दूरी आभा मन को मोह लेती थी। उनकी आत्मकथा में तत्सम, अरबी, अंग्रेजी, फारसी आदि शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है यथा-सौंदर्य, हृष्टपुष्ट, शहजादी, कोशिश, ज़िद, बन्दिशें, हैण्डराइटिंग, डांस, स्कूल, ट्रेन, आदि। मुहावरे व लोकोक्तियों का प्रयोग कई स्थानों पर होता है- मुँह में कीड़े पड़ना, चेहरे पर बारह बजना, पीड़ा से छटपटाना, जिसके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई, पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर, दुख के बाद सुख भी मिलता है, इसलिए सन्तोष रखो। दलित साहित्य में चाहे कविता हो, कथा या आत्मकथा हो या कोई अन्य विधा हो, सभी में नई शब्दावली, मुहावरे, कहावतें और भाषा का परम्परागत स्वरूप बदला हुआ दिखाई देता है। इसी तरह इनकी आत्मकथा में नई कहावतों का प्रयोग भी दिखाई देता है जैसे चील का मूत मांगती है, लकड़ी से पानी में मारों तो पानी अलग नहीं होता, लड़कियाँ चूल्हे का लूंगड़ा (जलती लकड़ी) हैं, जहाँ का लूंगड़ा वहीं जले तो अच्छा है आदि। ⁷

वाक्य-विन्यास का कुशल प्रयोग इस वाक्य में देखने को मिलता है- उन दिनों सूखा-बासा, मोटा-झोटा खाना और फटा पुराना पहनना ही हमारा जीवन था। कहीं-कहीं व्यंग्यात्मकता का पुट भी दिखाई पड़ता है- बड़े भैया हँसी-मजाक में कहते थे 'मामी तो गाँव के कुत्ता, बिल्ली से भी घूँघट लेती है, ढोर-डँगर से भी घूँघट करती है। लेखिका लोकजीवन के विभिन्न पक्षों को आत्मकथा में उद्घाटित करती हैं।

ग्रामीण जीवन के त्योहार, जन्म, विवाह आदि का जिक्र करती हैं जिसके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं-

'होली से दिन जंगल से टेसू के फूल उन्हें उबालकर केसरिया रंग बनाया जाता। सिवनी में कुछ लोग भांग और शराब पीकर होली खेलते। महिलाएँ घर परिवार में और मोहल्ले में एक-दूसरे पर रंग, गुलाल डालकर होली खेलतीं।

'माँ, नानी, बहन और मैं रामलीला देखने, भजन और कव्वाली सुनने जाते थे। तीजनबाई पण्डवानी की शैली जैसी कथा शैली में रामलीला के पात्र अपने संवाद बोलते हुए अभिनय करते। कभी गद्य और कभी पद्य में संवाद बोले जाते। सुनकर बहुत अच्छा लगता था।

इन पर्वों के साथ जीवन के अभाव व पीड़ा को भी सुशीला टाकभौरे उल्लेखित करती हैं- 'आज दीवाली है, मच्छी नहीं बनायेंगे। पर वे नहीं माने तब माँ ने मछली की तरकारी बनाकर दी थी। पिताजी कहते थे ये त्योहार हमारे नहीं हैं। हमारे पास कहां लक्ष्मी है जो हम उसकी पूजा करें? लेखिका की 'शिकंजे के दर्द आत्मकथा में लोकतत्व की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। इसमें ग्रामीण जीवन के अंधविश्वास, लोककथाएँ, लोकगीत सभी मौजूद हैं जैसे 'सावन के महीने में जब खूब पानी बरसता, माँ और नानी 'आल्हा ऊदल के युद्ध की पुस्तक 'आल्ह खण्ड' पढ़वाती थी। खाना खाने के बाद रात में घर के सब लोग शान्त भाव से सुनते। मैं लय और ताल के साथ गा-गा कर पढ़ती 'बड़े लह्या महोबे वाले, उनकी खूब चली

तलवार 'चक्की 'घर-घर की आवाज के साथ आटा पीसती रहती। चक्की चलाते हुए. माँ और नानी श्रम कष्ट भूलने के लिए अक्सर अपने गीतों से खुद को बहलातीं। उनके गीत कभी सूरदास के भजन होते, कभी मीरा के भजन। वे अक्सर गाती थी- 'मीरा थारो काई लागे गोपाल.....। कभी वे लोक कथाओं पर आधारित लोकगीत भी गाती थी का करूँ म्हाारी लाडो बेटी, थारी माँ करेला खाये थे..... उनके गीत की यह पंक्ति मुझे अभी याद है। चक्की पीसते हुए गाते समय बड़े ही तन्मय भाव से वे एक-दूसरे को बढ़ावा देती थी।

लेखिका आत्मकथा में शब्दों का यथास्थान चयन करते हुए दलित स्त्री जीवन का मर्मस्पर्शी चित्र उपस्थित करती हैं- 'गीला, सड़ा, गिजगिजा, बदबूदार कचरा, गोबर, मैला देखकर ही मतली आती। गन्दी नालियों और डबरो का गंदा पानी सड़कों पर बहता रहता। ऐसे गंदे पानी के बीच से कचरा उठाना, टोकरे में भरना, गीले कचरे से भारी टोकरे को अपनी कमर पर, कभी सिर पर रखकर दूर फेंकने जाना बहुत कठिन हो जाता। इसी तरह नरक सफाई का काम किया जाता।

बजबजाती गंदगी पर मुट्ठी भर राख डालकर वह अपनी किस्मत को कोसती थी। सुशीला टाकभौरे आत्मकथा में जनमानस में व्याप्त अंधविश्वास को भी उल्लेखित करती हैं। जिसके कुछ प्रसंग यहाँ प्रस्तुत हैं-

'घर के ऊपर बैठा कौआ काँव-काँव करता तब लोगों को विश्वास हो जाता कि उनके घर मेहमान आने वाले हैं। रोटी बनाते समय तवे के ऊपर आग चमकती, तब महिलाएँ कहती- तवा हँस रहा है, मेहमान आयेंगे।

"सोलह श्राद्ध के श्राद्धपक्ष के समय सुखलाल मामा नानी के घर आकर पुरखों को बैठाने और पितृमोक्ष अमावस्या को पुरखे खिलाते थे। पूजा के बाद सभी पत्तों को सूपे में रखकर एक-एक पत्ता घर के ऊपर फेंकते। पत्ते फेंकते समय मामा जोर-जोर से कहते थे- 'आओ रे कागा भोजन खाओ। सबको यह विश्वास था कौओं को भोजन खिलाने से पुरखों तक पहुँच जाता है।

इसके अतिरिक्त लेखिका की माँ बच्चों की तबियत खराब होने पर देवी-देवताओं से उन्हें ठीक करने के लिए मनौती माँगती और प्रसाद चढ़ाती। परन्तु ये अंधविश्वास व्यक्ति को कमजोर व कायर बनाते हैं। सुशीला टाकभौरे का यह मत आज भी सार्थक है कि अछूत, शुद्र के शरीर में ही भूत. चुड़ैल आते हैं परन्तु सवर्ण या बामन-बनियों के शरीर में ये कभी नहीं आते। इसका प्रमुख कारण दलितों का अशिक्षित होना। अपनी अज्ञानता के कारण ही वे अंधविश्वासों में जकड़े रहते हैं। जिसका एक बिम्ब लेखिका प्रस्तुत करती हैं- 'पूर्णिमा के दिन पुजारी के शरीर में भीलटदेव बाबा आते। लोग बाबा के सामने जाकर अपना दुख-दर्द और समस्याएँ बताते। बाबा उन्हें सब ठीक हो जाने का आश्वासन देते। ऐसे समय में कुछ लोगों के शरीर में देव-भूत भी खेलने लगते थे। हमारे गाँव की युवती कमला ढीमर के शरीर में 'चुड़ैल आती थी। बाबा की बैठक के समय वह जोर-जोर से नीखती, झूमती, अपने बाल बिखेरकर सिर हिलाती और तरह-तरह की आवाज निकालती थी। कभी उसे चिमटे से मारते, कभी रस्सियों से बाँध देते थे। बहुत देर बाद चुड़ैल शांत होती। कमला के घर परिवार के लोग बाबा से चुड़ैल भगाने की मित्रते करते थे। भूत-पिशाच वाले लोग लुगाई से बाबा ललकारकर प्रश्न पूछते। जवाब नहीं देने पर उन्हें डाँटते और सौगंध देते थे कौन है तू, बता, अपना नाम बता..... तुझे किसने भेजा? तुझे भेजने वाले की कसम है, उसका नाम बता। ⁸

सुशीला टाकभौरे 'नजर उतारने' का भी बिम्बात्मक चित्रण करती हैं- "मैं बचपन में नींद में डरती थी, तब हरि मामा ने मेरी नजर

उतारी थी। मोटी रस्सी का एक फुट लम्बा टुकड़ा मूँगफली के तेल में एक तरफ से भिगोकर जला दिया। दूसरे सिरे को हाथ से पकड़कर मेरे सामने लटकाकर रखा। नीचे पानी से भरी पीतल की बड़ी थाली में जलती रस्सी से गरम तेल टपककर गिरता तब छन्नछन्न..... आवाज आती। जलती आग के साथ छन्न की आवाज सुनाई देती। रस्सी ऊपर तक जलने लगी तब मामा ने उसे थाली के पानी में डाल दिया। छन्न की तेज आवाज के साथ धुआँ उठा। मामा ने बुरी बलाओं को कुलदेवताओं की सौगन्ध दी और कहा- उतर गई नजर, अब नहीं डरेगी।" आज भी समाज में कुछ लोग इस तरह के टोटके व अंधविश्वासों को मानते हैं। इसके अलावा लेखिका ने गर्मी के दोपहर का चित्रण, सावन के झूलों का चित्रण, मुहर्रम आदि का चित्रण चित्रात्मक भाषा में किया। वे पात्रानुकूल व प्रसंगानुकूल भाषा का प्रयोग करती हैं। 'शिकजे का दर्द आत्मकथा में कई जगह ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग मिलता है जैसे चक्की की आवाज घर-घरं, मुर्गी-मुर्गे को बुलाने के लिए 'ती-ती-ती-ती. मुर्गी की आवाज 'के के के, मेमनों का बोलना ऊ ह ह में हं हं. बिल्ली की म्याऊ म्याऊ कुत्ते को तू-तू-तू करके पुकारना आदि। कुछ स्थानों पर स्थानीय शब्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है यथा- मन किचबिचा जाता. पैर होला उम्मी की तरह मुजने लगते, उसकी पीठ साबुन और बूचे से घिस देती आदि। इसके अलावा सुशीला टाकभैरी की आत्मकथा में काव्यात्मक प्रस्तुति मिलती है- 'ओ गंगा मैया, तोहे पिहरी चढ़ाईवो बलमा से कर दे मिलनवा हो हाय राम, बलमा से कर दे मिलनवा 'झूला झूलते समय कच्चे नीम की निंबोरी, सावन जल्दी अइयो रे..... स्लेट पट्टी सुखाते समय 'नदी का पानी नदी में जा, कुएँ का पानी कुएँ में जा, मेरी पट्टी सूख जा खेल खेलते हुए 'इत्ता इत्ता पानी... गोल गोल रानी.... आदि।

आत्मकथा में प्रयुक्त भाषा द्वारा गद्यात्मक सौन्दर्य बढ़ जाता है- 'मैं देख रही थी- नाचने वाले नाच रहे थे, झूम-झूम कर धरती को छूकर हवा में छल्लाँ लगा रहे थे। उन्हें देखकर संस्था के कार्यकर्ताओं और नेताओं की खुशी दामन में नहीं समा रही थी। वे खुशी के साथ नाचने वालों पर नीला रंग उड़ा रहे थे, एक दूसरे को नीला टीका लगा रहे थे और 'जयभीम' कहते हुए धरती-आकाश को नीला कर रहे थे। सबके कपड़ों पर रंग नीला, उनकी हँसी नीली, खुशी नीली जैसे सब कुछ नीले रंग में रंगकर पूरा वातावरण भीममय हो गया था। इस प्रकार लेखिका की भाषा की संवेदनशीलता पाठक वर्ग को द्रवित करती है और सवर्णों से मिली छूआछूत, उपेक्षा, घृणा का चित्रण करती है। शिकजे के दर्द आत्मकथा में दलित स्त्री के अनेक रूपों की अभिव्यक्ति हुई। लेखिका की मामा की बेटी शम्मा, जो बेटा न होने पर सास द्वारा प्रतिदिन प्रताड़ित होती है। इस तरह लगातार यातना के तीक्ष्ण शूलों का सामना करते हुए गुजर जाती है। उसका पति जल्दी ही दूसरी शादी कर लेता है। शम्मा की तरह आज भी हमारे समाज में ऐसी स्त्रियाँ हैं। जो चुपचाप अन्याय को सहती हैं और पुरुष प्रधान समाज व संस्कारों की शिकार होती हैं। इसी प्रकार लेखिका की नानी दूसरों की जूठन को अपनी नियति और मैला ढोने के काम को कर्तव्य मानती है। हमेशा से चली आ रही परम्परा व बातों का प्रभाव इतना था कि उसे वो गाँव वालों का प्रेम मानती है। अशिक्षित व अज्ञानतावश नानी वास्तविकता को देख ही नहीं पाती कि मैला ढोने जैसे पैतृक पेशा करने पर समाज उसे घृणित नजरों से देखता है। उनके साथ अमानवीय व्यवहार व भेदभाव करता है। वहीं दूसरी ओर लेखिका के मँझले मामा की बेटी 'मालती' के चरित्र को उल्लेखित करते हुए लिखती हैं- 'कोई भी काम अपने मन से कर लेने की हिम्मत रखती थी। गाडरी मोहल्ले में बकरी वाली के कुएँ पर चढ़कर उनकी रस्सी बाल्टी से कुएँ का पानी

खींच कर पी लने की हिम्मत वह कर सकी थी। मगर अंजाम क्या हुआ? वह आठवीं से आगे नहीं पढ़ सकी। चाहे डॉट पड़ी या मार, मालती ने जातिभेद मानने वालों के मुँह पर लात मारी थी। इस तरह मालती ने अपना भविष्य दाँव पर लगा दिया परन्तु असमानता का विरोध निडरता के साथ किया। ऐसा ही होता आया है जब-जब दलित व स्त्री वर्ग ने अपने हक की बात कही या अन्याय व अत्याचार का विद्रोह किया, तब-तब उसको दबाया गया। उसके अस्तित्व का दमन करने की भरसक चेष्टा की गई। कई बार स्त्रियाँ सवर्ण वर्ग की हवस का शिकार भी हो जाती हैं। जिसके कारण उनका जीवन नरक से भी बदतर हो जाता है। आए दिन आज भी ऐसी घटनाएँ देखने व सुनने को मिलती हैं। इसलिए लेखिका कहती हैं कि दलित स्त्रियों को संगठित होकर अपने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के लिए लड़ना होगा। उन्हें स्वतंत्र व सम्मानित जीवन तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग होना होगा। भले ही शुरूआत में हमें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ सकता है परन्तु एकजुट होकर साहस के साथ लड़ा जाये तो परेशानी दूर हो सकती है। कली मौसी का उदाहरण देते हुए लेखिका लिखती हैं- 'कली मौसी बड़ी हिम्मतवाली थी। एक बार किसी महाजन ने किसी और के धोखे से कली मौसी का हाथ पकड़ लिया। कली मौसी ने गुस्से में उस आदमी को अपनी चप्पल से मारा था, तब इस बात की गाँव में बहुत चर्चा हुई थी। कली मौसी की तरह अगर प्रत्येक स्त्री उसकी इज्जत पर ऊँगली उठाने वाले को ऐसा सबक सिखाये तो कोई भी पुरुष देखने से पहले सिहर उठेगा।¹⁹

जीवन में ऐसे कई मोड़ आते हैं, जब आपके अधिकारों का हनन किया जाता है। लेखिका के जीवन में भी ऐसे प्रसंग आते हैं परन्तु ऐसे समय में लेखिका अपने हक के लिए डटी रही। लेखिका के शब्दों में- 'मैंने खाना छोड़ दिया। पानी को भी हाथ नहीं लगाया। पानी न पीने से घबराहट लगी तब पिया मगर खाना नहीं खाया। मुझे उल्टियाँ होने लगीं। घर के सब लोग खाना खाने के लिए मनाते रहे। मैंने दृढनिश्चय के साथ कहा था- मैं खाना नहीं खाऊँगी। आखिर उनके पिता व भाइयों को उनकी बात माननी पड़ी। इसलिए स्त्रियों को अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दृढ संकल्प करना होगा। ऐसा नहीं है कि सभी स्त्रियाँ सहन कर चुप रहती हैं। कुछ स्त्रियाँ गलत व्यवहार व अनुचित बात का प्रतिकार कर अपने अस्तित्व को बनाए रखती हैं। लेखिका की सास ने जब उनकी देवरानी सरोज को 'नीच खानदान की कहा तब वो तुरन्त ही उसका विरोध करती है- 'ऐ खबरदार, नीच खानदान की किसको कह रही है? मैं नहीं सुनूँगी किसी की एक भी बात। अपनी बहू को अपने घर में सुनाओ। मेरे से कोई ऐसी बात नहीं करना, नहीं तो ठीक नहीं होगा। वहीं दूसरी ओर कुछ स्त्रियों पर सदियों से दिए गए परम्परागत संस्कारों का असर इतना होता है कि बहुत समझाने पर भी समझ नहीं आती। उन्हें कुएँ के मेढ़क की तरह अपनी जिंदगी बिताना ज्यादा उचित लगता है। लेखिका ने अपने दूर के रिश्ते की एक लड़की, जो एम.कॉम कर रही थी। उसे शिक्षा प्राप्त कर नौकरी के विषय में पूछती है, तब उसका जवाब रूढ़ परम्पराओं से ग्रसित लगता है। लेखिका के शब्दों में- 'मैंने उससे पूछा- एम कॉम के बाद क्या करोगी? कौनसी नौकरी करोगी? वह बड़े गर्व के साथ बोली थी- नहीं आण्टी, लड़कियों और औरतों को घर में ही रहना चाहिए। घर की जिम्मेदारी रहती है।' मैंने उसे अपनेपन के साथ पढ़ाई का महत्व और नौकरी के फायदे बताए। वह उपेक्षा से बोली- आण्टी, रुपया पैसा और सम्मान ही सब कुछ नहीं होता। घर की इज्जत घर में ही रहना चाहिए। इस तरह लेखिका अपनी आत्मकथा के माध्यम से दलित स्त्री वर्ग को अपने

अस्तित्व व अस्मिता के प्रति जाग्रत करने की कोशिश करती हैं। जातिगत भेदभाव के कारण छीने गये अधिकारों की मांग व ललकार को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं। साथ ही सवर्ण वर्ग की असहनीय नजर, अपमान और पितृसत्तावादी व्यवस्था की आलोचना करती हैं।¹⁰

सुशीला टाकभौरे 'शिकंजे के दर्द' आत्मकथा में पति के सहयोग व अवरोधक दोनों पक्षों को स्पष्ट लिखती हैं। वे घरेलू हिंसा और पुरुष मानसिकता को रेखांकित कर कहती हैं- 'खाना परोसने में देरी होने पर या किसी बात से नाराज होने पर वे खाना नहीं खाते थे, तब घंटों मनाना पड़ता था। कभी-कभी वे स्पष्ट शब्दों में कहते पुरुष थे- मेरे पैरों पर अपना सिर रखकर माफी माँगा, तब मैं तेरी बात मानूँगा। के एकाधिकार से प्रताड़ित होने पर भी उन्होंने परिस्थितियों से भागना नहीं बल्कि सामना करना सीखा। कई बार ऐसे हालातों में स्त्रियाँ तलाक लेकर प्रताड़ना से छुटकारा पा लेती हैं परन्तु लेखिका ने तलाक को समस्या का समाधान न मानकर अपनी गरिमा व अस्तित्व के लिए संघर्ष किया। जिसका परिणाम आज हमारे सामने है कि वे वर्तमान में प्रतिष्ठित लेखिका के रूप में हैं साथ ही समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त किया है। लेखिका पति के सहयोगी पक्ष को भी रखती है जैसे सामाजिक कार्यों से जोड़ना, मंच से बोलने के लिए मनोबल बढ़ाना, विदेश यात्रा की तैयारी करवाना, भाषण लिखकर देना, अनेक सामाजिक कार्यकर्ताओं व साहित्यकारों से मिलवाना आदि। इस प्रकार वे पति के दोनों रूपों को निष्पक्ष होकर रखती हैं साथ ही वे नारी जीवन के संघर्ष को यथार्थ के घरातल पर उद्घाटित करती हैं।

अपने बेमेल विवाह की कसक सुशीला टाकभौरे के मन में कई बार उठती है- 'जब मैं कोई प्रेम कहानी पढ़ती थी या प्रेम कहानी की फिल्म देखती थी तब मेरा मन कल्पना के इन खिलौने को छोड़कर यथार्थ जीवन के अभाव से तड़पकर रोता था। कई दिनों तक, जैसे रेगिस्तान में खड़ी मैं दूर-दूर तक अपने सागर का किनारा खोजती रहती थी, गर्म रेत में पड़ी मछली की तरह तड़पने लगती थी, तब मन दुखी रहता था। क्यों मेरा मन इतना भटकता रहा? अपने जीवन के इस अभाव की पूर्ति मैं कल्पना में खोजती थी। इस तरह 'दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर ब्राह्मणवाद का तो दूसरे गाल पर पितृसत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है।

आत्मकथा लेखन के समय सुशीला टाकभौरे को पारिवारिक सदस्यों की नाराजगी का सामना भी करना पड़ता है। वे लिखती हैं माँ अक्सर मुझसे कहती है- अपने लोगों की ये सब बातें बताना शर्म की बात है। वे कोई बताने लायक अच्छी बातें नहीं हैं। तुम ऐसी बातों को अपनी किताबों में क्यों लिखती हो? पढ़-लिखकर पागल हो गई? जात-पाँत, छूआछूत और गाली-अपमान की बातें बताकर तुम अपना कौनसा सम्मान बढ़ाती हो? शर्म नहीं आती है तुम्हें? लेखिका अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' के लेखन का आधार स्पष्ट करती हैं। लेखिका के शब्दों में 'अपने जीवन का सच्चा चित्र समाज के समक्ष प्रस्तुत करना। केवल इतना ही नहीं, बल्कि अपने जीवन की परिस्थितियों से समाज को परिचित कराना या अपने संघर्षों को सच्चे उदाहरणों से समाज के सामने रखना है। मेरी आत्मकथा एक वंचित, अभावग्रस्त अछूत जाति की कथा है। यह एक अछूत लड़की की मानसिकता को पंगु बनाए जाने की सत्यकथा है। यह समाज में शोषित, पीड़ित, अबला नारी के शोषण-उत्पीड़न की कथा है। उच्च शिक्षा पाकर भी, ऊँचे पद पर रहकर भी, जाति भेद से पीड़ित और लगातार अपमानित होते रहने की कथा है।¹¹

निष्कर्ष

सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा दलित स्त्री जीवन के संघर्ष, पीड़ा और आत्मगौरव की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति है, जो हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श और दलित चेतना दोनों को एक नई दिशा प्रदान करती है। इस आत्मकथा में दलित स्त्री चेतना केवल अन्याय के प्रति प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि वह एक जागरूक, संगठित और परिवर्तनशील मानसिकता की अभिव्यक्ति है। टाकभौरे का जीवन अनुभव बताता है कि कैसे एक दलित स्त्री जातिगत शोषण, आर्थिक विषमता और लैंगिक भेदभाव की त्रिस्तरीय जकड़न से निकलकर आत्मसम्मान और शिक्षा के माध्यम से अपनी पहचान स्थापित करती है। उनकी चेतना में करुणा के साथ-साथ प्रतिरोध की गूंज है — वह प्रतिरोध जो समाज की रूढ़ियों, पितृसत्ता और ऊँच-नीच की व्यवस्था को चुनौती देता है। टाकभौरे ने यह स्पष्ट किया कि दलित स्त्री की मुक्ति केवल पुरुषसत्ता के विरोध से नहीं, बल्कि अपनी शिक्षा, स्वावलंबन और आत्मविश्वास से संभव है। उनकी आत्मकथा दलित स्त्रियों के भीतर यह संदेश जगाती है कि वे केवल पीड़िता नहीं, बल्कि परिवर्तन की वाहक हैं। वे बाबा साहेब आंबेडकर की उस चेतना को आगे बढ़ाती हैं जिसमें शिक्षा, संगठन और संघर्ष के माध्यम से सामाजिक समानता की राह प्रशस्त होती है। इस दृष्टि से टाकभौरे का लेखन केवल व्यक्तिगत अनुभवों का लेखा-जोखा नहीं, बल्कि एक सामाजिक घोषणापत्र है जो दलित स्त्रियों की सामूहिक आकांक्षाओं को स्वर देता है। अतः *'शिकंजे का दर्द'* दलित स्त्री चेतना की एक जीवंत दस्तावेज़ है, जो समाज को यह सोचने पर मजबूर करता है कि समानता और न्याय का सपना तभी पूरा होगा जब सबसे हाशिये पर खड़ी स्त्री की आवाज़ को केंद्र में स्थान दिया जाएगा। सुशीला टाकभौरे ने अपनी लेखनी से दलित स्त्री अस्मिता को इतिहास के परिदृश्य में अमिट बना दिया है।

संदर्भ

1. डॉ. देवेन्द्र चौबे, डॉ. विष्णु सरवदे, शिकंजे का दर्द दलित एवं नारी मुक्ति का यथार्थ दस्तावेज, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, संस्करण 2016. पृ. 127
2. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. 16
3. वही, पृ. 17
4. वही, पृ. 48
5. वही, पृ. 51
6. वही, पृ. 108
7. वही, पृ. 90
8. वही, पृ. 112
9. वही, पृ. 111
10. वही, पृ. 116
11. वही, पृ. 119

Creative Commons (CC) License

This article is an open access article distributed under the terms and conditions of the Creative Commons Attribution (CC BY 4.0) license. This license permits unrestricted use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original author and source are credited.